

भारतीय संविधान निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि: औपनिवेशिक शासन से लोकतंत्र तक

मनीष कुमार
एसोसिएट प्रोफेसर
स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय संविधान का निर्माण केवल एक कानूनी दस्तावेज तैयार करने की प्रक्रिया नहीं था, बल्कि यह भारत के लंबे स्वतंत्रता संघर्ष, सामाजिक परिवर्तन और लोकतांत्रिक आकांक्षाओं का परिणाम था। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीय जनता ने राजनीतिक अधिकारों, समानता और स्वशासन की मांग लगातार उठाई। इसी संघर्ष ने संविधान निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार की। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने संविधान निर्माण की दिशा को गहराई से प्रभावित किया। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, डॉ. भीमराव आंबेडकर तथा अन्य नेताओं ने स्वतंत्र, लोकतांत्रिक और समतामूलक भारत की कल्पना प्रस्तुत की। 1931 के कराची प्रस्ताव में मौलिक अधिकारों और सामाजिक न्याय पर विशेष बल दिया गया, जिसने बाद में संविधान के मूल सिद्धांतों को प्रभावित किया। 1946 में संविधान सभा का गठन हुआ, जिसने लगभग तीन वर्षों तक विचार-विमर्श करके संविधान तैयार किया। संविधान सभा में विभिन्न वर्गों, समुदायों और क्षेत्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। 26 नवंबर 1949 को संविधान को अंगीकृत किया गया और 26 जनवरी 1950 को इसे लागू किया गया। इसी दिन भारत एक संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक गणराज्य बना।

कुंजी शब्द: प्रतिनिधित्व, आर्थिक संरचना, राजनीतिक संरचना, संसदीय लोकतंत्र, संविधान, राष्ट्रवाद आदि।

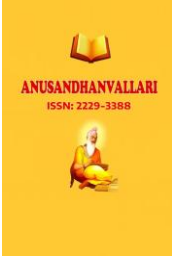
परिचय

भारत में प्रतिनिधित्व के विचार के संबंध में भारतीय संविधान का निर्माण और इसका महत्व: वर्तमान में, जबकि 21 वीं सदी के शुरुआती या मध्य दशकों (2020 के दशक) में, विशेष रूप से भारतीय संदर्भ में "प्रतिनिधित्व" का विचार, एक सामाजिक युद्ध के मैदान की भावना पैदा करता है। एक युद्ध का मैदान जो संसाधनों या उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण तक सीमित या सीमित नहीं है, उपभोग या प्राकृतिक संसाधनों के केवल कब्जे या सामाजिक-आर्थिक, सामाजिक-राजनीतिक संरचना के पदानुक्रम में एक स्थिति, चाहे वह सार्वजनिक हो या निजी, बल्कि 'जो कुछ' का विरोध एक¹ सार्थक, पर्याप्त या शायद स्वस्थ 'संस्कृति' के प्रतीकात्मक प्रतीक के रूप में खड़ा है। भारत जैसे सफल 'संसदीय लोकतंत्र' में प्रतिनिधित्व का विचार अभूतपूर्व तरीकों से विकसित हुआ है। स्वतंत्रता के बाद बिताए गए वर्ष सभी राज्य तंत्र के साथ एक आधुनिक राष्ट्र राज्य के निर्माण के वर्ष थे, जो प्रभावी और कार्यशील थे। इसका उद्देश्य लोकतांत्रिक मूल्यों और सिद्धांतों की एक ऐसी संस्कृति विकसित करना था जो सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल का सामना कर सके, जो लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने की संभावना थी, भारतीय समाज औपनिवेशिक और सामंती नियमों की जंजीरों और तालों से मुक्त हो गया था। लेकिन इससे पहले कि लोकतंत्र ने अपनी जड़ें जमा लीं ("इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत में लोकतंत्र ने जड़ें जमा ली हैं"³ कोहली, पृष्ठ 3), संविधान निर्माण की प्रक्रिया सांस्कृतिक दोषों के समाधान के आग्रह को संबोधित करने के लिए प्रतिस्पर्धा का स्थल बन गई।

¹जो भी हो: संसद और विधानसभाओं में प्रतिनिधित्व से लेकर सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरियों, सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली में प्रतिनिधित्व, उद्यमिता, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रतीकों का विनियोग आदि।

² संसदीय लोकतंत्र: लोकतांत्रिक राजनीति की एक प्रणाली जिसमें सर्वोच्च शक्ति लोगों की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाले निर्वाचित सदस्यों के निकाय के साथ निहित होती है।

³ कोहली, एएड (2001): *द सक्सेस ऑफ इंडियाज डेमोक्रेसी* (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज) पृष्ठ 3



वैचारिक रूप में संविधान के पाठ और इसकी विशिष्टताओं को इस तरह से विकसित करना था जिस पर 'साझा दस्तावेज' के रूप में भरोसा किया जा सके।⁴ सांस्कृतिक, क्षेत्रीय, धार्मिक, जातीय और भाषाई विविधता को संबोधित करने की दिशा में इसकी गारंटी के लिए संवैधानिक डिजाइन का समय के माध्यम से परीक्षण किया जाना था। भारतीय संविधान भारत के सांस्कृतिक चित्रकारी को दर्शाने के लिए। इस तरह के पाठ को विकसित करना तब मसौदा समिति के सामने एक चुनौती थी।

संविधान निर्माण के इतिहास को लिखने और बाद में राष्ट्र निर्माण में इसकी भूमिका लिखने का परिदृश्य बड़ा था, फिर भी ऐतिहासिक अतिसरलीकरण ने आम समझ को जन्म दिया कि संविधान निर्माण उस प्रक्रिया का हिस्सा था जिसमें यह राष्ट्रीय आंदोलन के दिग्गजों के लिए "सांस लेने की जगह" बन गया था, जिसमें वे "दो गांधीवादी संघर्षों के बीच राजनीतिक शून्य को भर रहे थे।⁵ लेकिन इस तर्क का दूसरा पक्ष यह तथ्य है कि सभी जन आंदोलनों ने अपनी सभी सक्रिय या निष्क्रिय प्रतिक्रियाओं के साथ संविधान में निहित विचारों और इसके नैतिक मूल्यों के अंतिम क्रिस्टलीकरण का नेतृत्व किया, जो "समानता" की घोषणा में सभी जातियों और समुदायों के सदस्यों के लिए एक स्थायी आश्वासन है।⁶ दूसरे, संवैधानिक आंदोलन कहता है कि इसे, "कानून की चार दीवार" के भीतर बनाया गया था।⁷ भारत के विभाजन की पृष्ठभूमि के खिलाफ दिसंबर 1949 में भारतीय संविधान के मसौदे का उद्भव वार्ता के सिद्धांतों पर भरोसा करने वाले लाखों लोगों के लिए भाग्य तैयार करने की एक शर्त के साथ आया, जो बदले में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के विचार पर आधारित था और मुख्य रूप से हिंदुओं के बीच धार्मिक और राजनीतिक विभाजन में फैले विरोधों के समायोजन पर आधारित था। जो की 1916 के बाद से विभिन्न समूहों के बीच बातचीत 1950 में अंतिम मसौदे की उपस्थिति और अपनाने तक जारी रही। इस लेख में, अन्य हितधारकों के बारे में बड़े पैमाने पर चर्चा की गई है, जिन्होंने एक साझा संविधान पर आम सहमति के निर्माण में उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जितनी कि उपर्युक्त धार्मिक समूह ने निभाई थी।

भारतीय गणराज्य के लिए संविधान लेखन का इतिहास वर्ष 1600 में इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी के गठन के साथ जुड़ा हुआ है। वर्ष 1765 में ईस्ट इंडिया कंपनी को मुगलों से बंगाल, उड़ीसा और बिहार की 'दीवानी' प्राप्त होने के साथ कंपनी शासन की शुरुआत हुई थी। इस अवधि में कंपनी के प्रशासन को अधिनियमों और चार्टर्स के माध्यम से विनियमित किया गया, जो ब्रिटिश सरकार द्वारा कंपनी को समय की अवधि में जारी किए गए थे। अधिनियमों और चार्टर्स ने कंपनी को न केवल भारत में व्यापार स्थापित करने में बल्कि प्रशासन पर नियंत्रण रखने का भी अधिकार दिया, "ये अधिनियम और चार्टर जिन्होंने कंपनी को भारत में प्रशासन को नियंत्रित करने में मार्गदर्शन किया और भारत में व्यापार के अपने अधिकारों को भी निपटाया, भारत के संवैधानिक विकास का पहला हिस्सा बनाया।"⁸ वर्ष 1765 और 1947 के बीच, जब तक भारत को स्वतंत्रता नहीं मिली (या अधिक सटीक रूप से 1949-50), भारत में संवैधानिक विकास का इतिहास लगभग 185 वर्षों का है। लगभग दो शताब्दियों से, यह अभूतपूर्व सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक उथल-पुथल, संघर्ष, टकराव, संघर्ष (आंतरिक और बाहरी दोनों), वार्ता-पुनः वार्ता, विभाजन, समझौता, समायोजन, दर्द और आघात का दौर है, इससे पहले कि वास्तव में देश ने अपना नया जीवन और प्रगति शुरू किया। यहां बहुत संक्षेप में, इन अधिनियमों, चार्टर्स, कानूनों, सुधारों के विकास से संबंधित महत्वपूर्ण घटनाओं पर चर्चा की गई है, ताकि इन परिवर्तनों पर सरसरी तौर पर विचार किया जा सके जिनके कारण अंततः स्वतंत्र भारत के संविधान का विकास हुआ।

1765-72 के दौरान कंपनी और नवाबों की दोहरी सरकार की व्यवस्था जारी रही। इस अवधि के दौरान भारत को शोषण के सबसे खराब रूपों का सामना करना पड़ा। उस समय के ब्रिटिश सांसदों में से एक, सर जॉर्ज कॉर्नवेल लुईस के अनुसार, "इस धरती पर कभी भी कोई सभ्य सरकार मौजूद नहीं थी जो 1765-72 तक ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार से अधिक भ्रष्ट, अधिक विश्वासघाती और अधिक लालची थी" (फाडिया, पृष्ठ 51)। एडमंड बर्क ने कहा, "कंपनी के नौकरों का निजी व्यापार व्यापार से अधिक डकैती से अधिक है। लेकिन वर्ष 1772 में बंगाल के गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स के आगमन के साथ दोहरी सरकार की व्यवस्था समाप्त हो गई और बंगाल, बिहार और उड़ीसा सीधे ब्रिटिश सरकार के प्रशासनिक नियंत्रण में आ गए। इस प्रकार 1773 का रेगुलेटिंग एक्ट उस लाभ का परिणाम था जो ब्रिटिश सरकार ने चीजों को ब्रिटिश संसद के सीधे नियंत्रण में लाने के लिए स्थिति का लाभ उठाया। इसके बाद, रेगुलेटिंग एक्ट की कमियों को दूर करने के प्रयास में, वर्ष 1784 में पिट्स इंडिया एक्ट लाया गया, जिसमें कंपनी और क्राउन के कर्तव्यों के बीच आवश्यक अंतर को स्पष्ट रूप से उजागर किया गया और बनाया गया। भारत

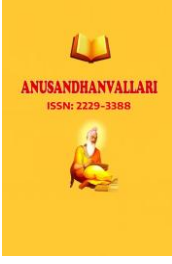
⁴ साझा दस्तावेज: विभिन्न धार्मिक समूहों, महिलाओं, दलितों, जनजातियों और अन्य अल्पसंख्यकों की चिंताओं को दूर करने के संदर्भ में समावेशी।

⁵ बीआर नंदा (1995): *जवाहरलाल नेहरू: विद्रोही और राजनेता*, (नई दिल्ली, ओयूपी), पृष्ठ 22

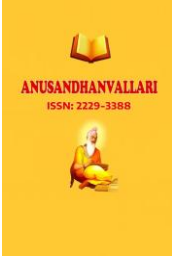
⁶ समानता: भारतीय संविधान की प्रस्तावना; कानून के समक्ष समानता और समान अवसर की।

⁷ बिपिन चंद्र (1971): *मॉडर्न इंडिया* (दिल्ली, एनसीईआरटी), पृष्ठ. 212

⁸ फाडिया, बीएल और कुलदीप फाडिया (2020): *भारत सरकार और राजनीति*, साहित्य भवन, पृष्ठ 51



में ब्रिटिश सरकार के प्रशासनिक नियंत्रण को और सशक्त बनाने के लिए 1793-1853 के बीच चार्टरों की एक श्रृंखला का पालन किया गया। वर्ष 1857 भारतीय प्रतिरोध को चिह्नित करने में महत्वपूर्ण था, उस समय राजनीतिक रूप से उनके साथ जो कुछ भी हो रहा था, उसके जवाब में विद्रोह के बाद, वर्ष 1858 में भारत सरकार अधिनियम लाया गया था, जिसमें अंततः कंपनी की शक्तियों को समाप्त कर दिया गया था और प्रशासन को राज्य के एक सचिव के माध्यम से क्राउन के नाम पर चलाने के लिए ले जाया गया था, जिसे निदेशक मंडल और नियंत्रण बोर्ड की शक्तियां दी गई थीं। प्रो. जी. एन. सिंह के अनुसार, भारत सरकार अधिनियम, 1858, "भारतीय संविधान और राष्ट्रीय विकास में मील के पत्थर" था (फाडिया, पृष्ठ 56)। वर्ष 1861 और 1892 में राज्य के सचिव और वायसराय की शक्तियों को परिभाषित करते हुए दो लगातार भारतीय परिषद अधिनियम पेश किए गए थे। 1861 के भारतीय परिषद अधिनियम ने भारतीय जनमत को नीति निर्माण प्रक्रिया से अलग कर दिया, और माना जाता है कि यह निरंकुशता की शुरुआत है। वर्ष 1909 में एक और भारतीय परिषद अधिनियम पेश किया गया था, जिसे 1892 के भारतीय परिषद अधिनियम की कमियों को दूर करने के लिए लोकप्रिय नाम, मॉर्ले-मिंटो सुधार मिला। लेकिन ब्रिटिश सरकार का इरादा भारतीय राजनीति में कठोरपंथी क्रांतिकारी राष्ट्रवाद से निपटना और उस समय के उदारवादी सोच वाले कांग्रेस नेताओं को खुश करना था ताकि चरमपंथी राष्ट्रवाद की भावना को दबाया जा सके। मॉर्ले-मिंटो सुधारों के बाद, वर्ष 1919 में मॉंटैग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार अधिनियम जो 1917 की मॉंटैग घोरणा की अनुवर्ती कार्यवाही थी। इस अधिनियम को भारत सरकार अधिनियम 1919 के रूप में भी जाना जाता है। इससे गृह सरकार, केंद्र और प्रांतों में महत्वपूर्ण बदलाव आए। इस अधिनियम ने दस साल बाद एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति का प्रावधान किया ताकि स्थितियों का मूल्यांकन किया जा सके कि भारत सरकार अधिनियम 1919 व्यवहार में अपने उद्देश्य में कितनी हद तक सफल रहा है और यह देखने के लिए कि भारतीय लोगों ने इसका क्या जवाब दिया है ताकि भारतीय नेताओं द्वारा आत्मनिर्णय के प्रश्न पर उस आधार पर विचार किया जा सके। इसलिए, वर्ष 1927 में, नवंबर के महीने में सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक रॉयल कमीशन नियुक्त किया गया था। भारत के सभी राजनीतिक दलों ने तब इस तरह के आयोग के आने का कड़ा विरोध किया था और सर्वसम्मति से साइमन रिपोर्ट को खारिज कर दिया था। लेकिन बाद में, साइमन रिपोर्ट की कई सिफारिशें भारत सरकार अधिनियम 1935 के रूप में मूर्त रूप में सामने आईं। 1929 में, जब 'डोमिनियन स्टेटस' की मांग को खारिज कर दिया गया, तो लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने "पूर्ण स्वराज" के लिए प्रस्ताव अपनाया। नमक कर कानून को तोड़ने के आह्वान के साथ सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ। इन घटनाओं के बाद नवंबर 1930 में, लंदन में, गोलमेज सम्मेलन की श्रृंखला शुरू हुई। मार्च 1933 में ब्रिटिश सरकार द्वारा एक श्वेत पत्र प्रकाशित करने से पहले तीन गोलमेज सम्मेलन हुए, जिसमें प्रस्तावित नए संविधान की रूपरेखा थी। इसके अलावा, श्वेत पत्र की सिफारिशों का मूल्यांकन करने के लिए दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति का गठन किया गया था, जिसने नवंबर 1934 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, जिसके आधार पर 19 दिसंबर 1934 को ब्रिटिश संसद में एक विधेयक पेश किया गया था, विधेयक पारित हो गया और भारत सरकार अधिनियम, 1935 बन गया। ब्रिटिश क्राउन की ओर से, 8 अगस्त 1940 को भारत के तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड लिनलिथगो ने नई संवैधानिक नीति की व्याख्या करने के लिए कुछ घोषणाएं कीं, जिसे "अगस्त ऑफर" कहा जाता था। इस प्रस्ताव के अनुसार, गवर्नर-जनरल ने डोमिनियन स्टेटस और भारतीयों के बारे में अपने लिए एक संविधान लिखने का आश्वासन दिया। इसके बाद, 1942 में, क्रिप्स का प्रस्ताव आया, जिस पर गांधी ने यह कहते हुए जवाब दिया कि प्रस्ताव "पोस्ट-डेडेड चेक" के अलावा और कुछ नहीं है, और सभी भारतीय नेताओं द्वारा सर्वसम्मति से खारिज कर दिया गया। 1939 और 1941 के बीच द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटेन को भारी नुकसान का सामना करना पड़ रहा था। जापान के पूर्व में उसके उपनिवेश युद्ध में खो गए थे। सर स्टैफोर्ड क्रिप्स को भारत में संवैधानिक संकट के लिए एक समाधान के साथ आने का काम सौंपा गया था। क्रिप्स ने इसे भारतीय नेताओं के साथ सौदेबाजी करने के अवसर के रूप में देखा। हालांकि, मिशन ने युद्ध के दौरान भारतीयों को शक्तियों के हस्तांतरण और युद्ध के बाद सत्ता के पूर्ण हस्तांतरण की आंशिक शक्ति की परिकल्पना की, यह उस समय के भारतीय नेताओं को समझाने में बुरी तरह विफल रहा। एक बार जब क्रिप्स मिशन भारत में विफल हो गया, तो लॉर्ड वेवेल अपने प्रस्तावों के साथ आए। लेकिन तब तक अगस्त 1942 में कांग्रेस ने भारत छोड़ो प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था। वेवेल ने डोमिनियन स्टेटस का प्रस्ताव रखा और भारतीयों को क्रिप्स योजना में अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तनों के साथ अपना संविधान लिखना था। 24 मार्च, 1946 को नई दिल्ली पहुंचे, तीन ब्रिटिश कैबिनेट मंत्री, पेथिक लॉरेंस, स्टैफोर्ड क्रिप्स और एवी अलेक्जेंडर, पहले के प्रस्ताव में अपने बदलावों के सेट के साथ, जिसे कैबिनेट मिशन योजना कहा जाता था। यह भारत के एक संघ के विचार के साथ आया था, जिसमें ब्रिटिश भारत और राज्य दोनों शामिल थे। इस मिशन ने एक संविधान सभा के गठन का भी प्रस्ताव रखा, जिसमें 389 सदस्य - 93 राज्य प्रतिनिधि शामिल थे। 4 मुख्य आयुक्त के प्रांतों से और शेष 292 ब्रिटिश भारतीय प्रांतों से थे। मिशन ने घोषणा की कि जब तक नया संविधान नहीं बनाया जाता तब तक प्रशासन को 'अंतरिम सरकार' द्वारा चलाया जाना चाहिए, जिसे सभी प्रमुख राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त हो। अंत में, भारत में ब्रिटिश शासन की ढाई शताब्दियों के चरमोत्कर्ष पर, लॉर्ड माउंटबेटन को सत्ता के सुचारु हस्तांतरण के लिए नए वायसराय के रूप में भारत भेजा गया था। बढ़ते सांप्रदायिक तनाव के बीच, अंतरिम सरकार या संविधान सभा के मुद्दे पर कांग्रेस और मुसिम लीग के साथ हल करना असंभव समझते हुए, माउंटबेटन ने जून 1948 के बजाय 15 अगस्त 1947 को सत्ता हस्तांतरित करने का फैसला किया, जैसा कि पहले घोषित किया गया था। 3 जून, 1947 को माउंटबेटन योजना जारी की गई थी। इसने भारत को दो डोमिनियन राज्यों में विभाजित करने और



15 अगस्त 1947 को शक्ति के पूर्ण हस्तांतरण का प्रस्ताव रखा। ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वतंत्रता विधेयक 1947 पारित किया जिसमें भारत की स्वतंत्रता और विभाजन के प्रावधान शामिल थे। इसने पाकिस्तान के गठन के लिए दो डोमिनियन राज्यों के निर्माण के लिए तारीख, क्षेत्रीय रेखाएं तय कीं। जब तक दो डोमिनियन राज्यों के लिए नया संविधान नहीं बनाया गया, तब तक उन्हें भारत सरकार अधिनियम, 1935 द्वारा प्रशासित किया जाना था (फादिया, पृष्ठ 51-66)।

वर्ष 1920 तक यह स्पष्ट हो गया था कि भारतीय स्वतंत्रता सेनानियों का "स्वतंत्रता" शब्द से क्या मतलब है। दिसंबर 1918 में दिल्ली में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 33 वें सत्र के दौरान, एक सर्वसम्मत प्रस्ताव में भारत के आत्मनिर्णय के अधिकार की घोषणा की गई, "आत्मनिर्णय के सिद्धांतों को भारत में लागू किया जाना चाहिए"। 5 जनवरी, 1922 को *यंग इंडिया* के *संस्करण* में, गांधी ने लिखा कि स्वराज ब्रिटिश संसद का उपहार नहीं होगा, बल्कि "भारत के लोगों की इच्छाओं से उत्पन्न होना चाहिए" जैसा कि उनके स्वतंत्र रूप से चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से व्यक्त किया गया है।⁹ इसके बाद, फरवरी 1924 को स्वराज पार्टी के नेता मोतीलाल नेहरू ने "केंद्रीय विधान सभा में एक प्रस्ताव पेश किया, जिसमें महत्वपूर्ण अल्पसंख्यकों के अधिकारों और हितों की रक्षा पर सिफारिशों के साथ आने के लिए एक प्रतिनिधि गोलमेज सम्मेलन की जल्द से जल्द एक तारीख की मांग की गई, जो भारत के संविधान की योजना है।¹⁰ इसके बाद 17 मई, 1927 को कांग्रेस के बॉम्बे अधिवेशन में मोतीलाल नेहरू ने एक प्रस्ताव पेश किया, जिसमें केंद्रीय और प्रांतीय विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों, राजनीतिक दलों के नेताओं और कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यों के परामर्श और सामूहिक प्रयासों के माध्यम से एक भारतीय संविधान बनाने की अपील की गई। इस प्रकार 19 मई, 1928 को बॉम्बे में कांग्रेस कार्य समिति द्वारा एक सर्वदलीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई थी, जिसे उन सिद्धांतों को तैयार करने का काम सौंपा गया था, जिन पर भारतीय संविधान का मसौदा तैयार किया जाना था। समिति ने 10 अगस्त 1928 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसे बाद में "नेहरू रिपोर्ट" कहा गया। यह रिपोर्ट संसदीय मॉडल के आधार पर पूर्ण सरकार के साथ "डोमिनियन स्टेट्स" के सिद्धांत पर आधारित थी। लेकिन 1930-1932 के दौरान, ब्रिटिश सरकार ने भारत में संवैधानिक सुधारों के प्रस्तावों का अपना संस्करण तैयार किया। प्रस्तावित मसौदे का एक अवतार एक श्वेत पत्र के सामने आया जिसे मार्च 1933 में ब्रिटिश सरकार द्वारा जारी किया गया था। (फादिया, पृष्ठ 84)।

वर्ष 1934 तक एक संविधान सभा की मांग उन आधिकारिक नीतियों का हिस्सा बन गई, जिनके लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने वकालत की थी। कांग्रेस कमेटी ने कहा,¹¹ "1933 के श्वेत पत्र को स्वीकार करने से इनकार करते हुए, क्योंकि इसमें भारत के लोगों की इच्छा व्यक्त नहीं की गई थी¹², श्वेत पत्र का एकमात्र संतोषजनक विकल्प संविधान सभा द्वारा तैयार किया गया संविधान है, जिसे वयस्क मताधिकार के आधार पर या जितना संभव हो सके शक्ति के साथ चुना गया हो। यदि आवश्यक हो, तो महत्वपूर्ण अल्पसंख्यकों को अपने प्रतिनिधियों को विशेष रूप से ऐसे अल्पसंख्यकों से संबंधित मतदाताओं द्वारा चुना जाना चाहिए।¹³ 1937 में फैजपुर, हरिपुरा, त्रिपुरी और शिमला सम्मेलन के साथ-साथ कई प्रांतीय विधानसभाओं और केंद्रीय विधायिका पर कांग्रेस ने दोहराया कि भारत केवल लोगों से तैयार किए गए संविधान को स्वीकार कर सकता है और "किसी विदेशी प्राधिकरण के हस्तक्षेप के बिना" तैयार किया जा सकता है (ऑस्टिन, पृष्ठ 2)।¹⁴

डेली हेराल्ड, 3 अक्टूबर, 1933 के संस्करण के लिए लिखते हुए, जबकि लखनऊ में नेहरू ने एक निश्चित रूप में आत्मनिर्णय के विचार को स्पष्ट रूप में स्पष्ट करते हुए कहा, "संघर्ष का राजनीतिक समाधान तभी आ सकता है जब भारतीय लोग एक लोकप्रिय रूप से चुनी गई संविधान सभा में अपना संविधान स्थापित कर सकें (फादिया, पृष्ठ 84)। संविधान सभा में बहस के लिए नेहरू के प्रस्ताव को 17-18 जून को 1934 की गर्मियों के दौरान पहली बार औपचारिक रूप से स्वीकार किया गया था। कांग्रेस के प्रस्ताव में कहा गया है, "श्वेत पत्र का एकमात्र

⁹ गांधी, एमके (5 जनवरी, 1922): *यंग इंडिया*: (गांधी के लिए, स्वराज का मतलब अंग्रेजों से स्वतंत्रता से अधिक था। इसका मतलब राष्ट्रीय और व्यक्तिगत (सभी भारतीयों के लिए) आत्म-साक्षात्कार दोनों था; इसका मतलब था विदेशी तरीकों के साथ-साथ विदेशी शासन को भी फेंकना, ताकि भारतीय अपनी आत्माओं के साथ-साथ अपने राजनीतिक भविष्य के स्वामी के रूप में उभर सकें)।

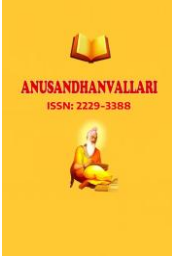
¹⁰ फाडिया, बीएल और कुलदीप फाडिया (2020): *भारत सरकार और राजनीति*, साहित्य भवन, पृष्ठ 83

¹¹ ऑस्टिन, जी. (2022): *द इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन, कॉर्नरस्टोन ऑफ ए नेशन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 1

¹² 1933 के *भारतीय संविधान सुधार के प्रस्ताव*; सीएमडी 4268. यह 1935 के अधिनियम के संवैधानिक आधारों में से एक था।

¹³ चक्रवर्ती, पी. और सी. भट्टाचार्य, *कांग्रेस इन इवोल्यूशन*, पृष्ठ 30, इस घोषणा में स्वराज पार्टी की भूमिका की पृष्ठभूमि के लिए, तेंदुलकर, *महात्मा*, iii, 335 और 338-9 और संविधान सभा बहस, I, 1, 5 देखें।

¹⁴ त्रिपुरी कांग्रेस के एक प्रस्ताव से; और ग्रानविले ऑस्टिन (2020), *भारत का संविधान, एक राष्ट्र की आधारशिला*, ओयूपी, पृष्ठ 2. और चक्रवर्ती और भट्टाचार्य, ऑपा



संतोषजनक विकल्प वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी गई संविधान सभा द्वारा तैयार किया गया संविधान है। 1938 और 1940 के दौरान क्रमशः हरिपुरा और रामगढ़ में आयोजित कांग्रेस सत्र, स्वराज प्राप्त करने की प्रतिबद्धता की एक मजबूत पुष्टि थी, जो संविधान सभा द्वारा विधिवत निर्वाचित संविधान द्वारा एक संविधान था और इस प्रक्रिया में हस्तक्षेप किए बिना भारतीय लोगों की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता था। वर्ष 1942 का क्रिप का प्रस्ताव 1940 के "अगस्त ऑफर" पर एक प्रगति थी। क्रिप के प्रस्ताव में "एक नए भारतीय संघ के निर्माण की परिकल्पना की गई थी जो एक डोमिनियन का गठन करेगा ... अपने घरेलू या बाहरी मामलों के किसी भी पहलू में किसी भी अधीनस्थ में नहीं। लेकिन क्रिप का मिशन भारतीय नेताओं को समझाने में विफल रहा, जिसके परिणामस्वरूप 8 अगस्त, 1942 के 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' को शामिल किया गया, जिसमें भारतीय लोगों के सभी वर्गों के लिए स्वीकार्य स्वतंत्र भारत की एक अस्थायी रूप से चुनी गई सरकार के लिए प्रावधान किए गए थे, एक संविधान सभा के साथ आ रही थी जो एक भारतीय संविधान का मसौदा तैयार करेगी, जो वास्तविक अर्थों में भारत के लोगों द्वारा एक संविधान होगा। भारत के लोगों और भारत के लोगों के लिए।

स्वतंत्रता के समय तक, भारतीय लोगों ने राष्ट्रीयता की भावना हासिल कर ली और इससे जुड़ी गरिमा को पहचाना। "भारतीय जनता खुद को एक कॉर्पोरेट इकाई महसूस करती थी और खुद को वयस्क महसूस करती थी। स्वतंत्रता एक आदर्श थी, जिसके लिए काम किया जाना था। अब यह सार्वजनिक जीवन का स्वयंसिद्ध था।¹⁵ और इसलिए, इसके परिणामस्वरूप दिसंबर 1946 में एक संविधान सभा जो "लोगों से प्राप्त हुई ... सारी शक्ति और अधिकार" बुलाई गई थी।¹⁶ बाद के दशकों में भारतीय संविधान को जो सफलता मिली, वह स्वदेशी प्रकृति के कारण है (ऑस्टिन पृष्ठ 2)। "भारतीयों द्वारा संविधान को दोष देने की संभावना कम रही है और गर्व के साथ देखने की अधिक संभावना है, क्योंकि उन्होंने इसे स्वयं बनाया था और क्योंकि इसे स्वयं लिखने के बाद, यह उनकी आवश्यकताओं के लिए बेहतर अनुकूल था।¹⁷

युद्ध के वर्षों (द्वितीय विश्व युद्ध) के दौरान, संविधान सभा की वकालत करने वाली कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं, और अधिकांश भारतीय नेता इसकी मांग कर रहे थे। गांधी ने 12 नवंबर 1939 को हरिजन में प्रकाशित एक लेख में लिखा था कि इस तरह की सभा सांप्रदायिक समस्या से निपटने के लिए सबसे अच्छी और "एकमात्र रास्ता" होगी¹⁸, जैसा कि उस समय के अन्य प्रमुख नेताओं द्वारा भी माना जाता था। लेकिन उपरोक्त प्रवृत्ति के दो अपवाद भी मौजूद थे और मुखर थे। ये दोनों अपने-अपने समुदाय के दिग्गजों और पथप्रदर्शक से कम नहीं थे। अनुसूचित जाति के लिए डॉ. बी. आर. अम्बेडकर और मुसलमानों के लिए जिन्ना। 6 मई 1945 को, डॉ. अम्बेडकर ने अनुसूचित जाति संघ को बताया कि इस तरह की सभा की आवश्यकता नहीं है और भारत सरकार अधिनियम आवश्यक उद्देश्य को पूरा करेगा।¹⁹

संविधान सभा की मांग की तीव्रता में वृद्धि न केवल इस तथ्य से हुई कि उस समय के राजनीतिक नेतृत्व की ओर से लगातार और ठोस प्रयास किए गए थे, बल्कि युद्ध के दौरान सेना का प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले भारतीय सैनिकों की बढ़ी हुई क्षमता से भी आया था और अब वे न केवल हथियारों का उपयोग करने की अपनी क्षमता के मामले में बेहतर ढंग से सुसज्जित हैं। एकता की भावना में जो इस तरह के प्रशिक्षण ने उनके लिए लाया है (ऑस्टिन, पृष्ठ 3)। दूसरी ओर, लंदन में नवनिर्वाचित लेबर पार्टी सरकार ने पहले ही सर्दियों के दौरान संविधान सभा बनाने की इच्छा दिखाई थी, ताकि "नव निर्वाचित प्रांतीय विधायिकाएं एक संविधान सभा के लिए चुनावी निकायों के रूप में कार्य करने के लिए तैयार हों" (ऑस्टिन, पृष्ठ 4)²⁰ जैसा कि 1946 के दौरान धारा 1.1 (ए) में चर्चा की गई है, कैबिनेट मिशन ने एक मशीनरी विकसित करने में भारतीयों को आवश्यक सहायता प्रदान करने में वायसराय की सहायता करने के इरादे से नई दिल्ली पहुंचने के लिए लंदन छोड़ दिया, जो संभवतः उन्हें अपना संविधान बनाने के लिए प्रेरित कर सकता है। मिशन ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच सुलह करने और सांप्रदायिक भड़कने को कम करने की भी मांग की। जिन्ना ने कथित तौर पर मुसलमानों के अधिकारों के लिए वकालत करके और मुस्लिम राजनीति के एक *प्राथमिक सिद्धांत* को 60 साल पुराना - द्वि-राष्ट्र सिद्धांत

¹⁵ पर्सिवल, एस. (1956): *हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, पेंगुइन बुक्स, 1956, पृष्ठ 407

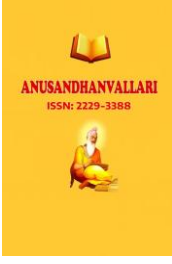
¹⁶ उद्देश्य विधानसभा द्वारा पारित प्रस्ताव; संविधान सभा वाद-विवाद (सीएडी) I, 5, 59.

¹⁷ शाही सत्ता के औपनिवेशिक कार्यालय में लिखे गए और ब्रिटिश संसद द्वारा पारित संविधान के बजाय 'घर में बने' संविधान की यह इच्छा इस बात का स्रोत है कि के. सी. व्हेयर ने 'संवैधानिक स्वाधिकार का सिद्धांत' नाम दिया है, या संविधान की इच्छा भूमि से ही उत्पन्न हुई है। केसी व्हेयर, *राष्ट्रमंडल की संवैधानिक संरचना*, पृष्ठ 89 देखें। यह भी देखें, ऑस्टिन, पृष्ठ 2

¹⁸ गांधी, एम.के. *हरिजन*, 12 नवंबर 1939

¹⁹ *भारतीय वार्षिक रजिस्टर (आईएआर)*, 1946, 1, पीपी.321-24। और ऑस्टिन, जी। *भारतीय संविधान*, OUP, 2022, पृष्ठ 3

²⁰ ऑस्टिन, जी. ऑप. सीआईटी. पृष्ठ 4.

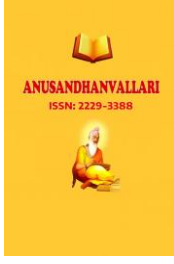


बनाकर "मुस्लिम लीग को सत्ता के लिए एक वाहन में बदल दिया" (ऑस्टिन, पृष्ठ 4)। 3 जून, 1947 को माउंटबेटन ने मार्च 1947 में जो फैसला सुनाया था। भारत के लगभग आधे मुसलमान जिन्ना के साथ पाकिस्तान के लिए रवाना होने वाले थे, और 15 अगस्त 1947 को दो स्वतंत्र राज्यों को उपमहाद्वीप में भारत और पाकिस्तान के रूप में मान्यता दी जाएगी। ब्रिटिश संसद द्वारा पारित भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 15 अगस्त 1947 को लागू हुआ, जिसने "संविधान सभा को अपनी स्थापना के बाद से कानूनी दर्जा दिया"।²¹ इसलिए, पहचान की दोष रेखाओं से बाहर निकलने वाली विभिन्न जातियों और समुदायों की आशाएं और आकांक्षाएं सकारात्मक कार्यवाई के संवैधानिक प्रवचनों में विलीन हो गई हैं, "जाति, समुदाय और संस्कृति की धारणाएं केवल वैचारिक अधिचरना नहीं हैं, बल्कि जीवन सामाजिक परिस्थितियों के वास्तविक अस्तित्वगत तथ्य हैं..... यह उन निकायों के बीच बातचीत का इतिहास है जो पहचान, शक्ति, प्रतिनिधित्व, सकारात्मक कार्यवाई, सीटों के आरक्षण आदि के प्रवचनों को स्पष्ट कर रहे थे..... संवैधानिक विमर्श का खाका जाति और सामुदायिक प्रवचनों की अभिव्यक्तियों पर विचार को आमंत्रित करता है, जिससे उन्हें एक ही कथा में उलझाया जा सकता है जो एक साझा संविधान के उद्भव को प्रेम करता है जैसा कि जिन्ना द्वारा बातचीत की जा रही थी। मुस्लिम लीग, अंबेडकर, सिख और हिंदू महासभा²² वर्ष 1916 इस संदर्भ में महत्वपूर्ण था कि यह आधुनिक भारत के संवैधानिक इतिहास को समझने के लिए एक व्यापक संदर्भ बिंदु देता है। "लखनऊ समझौता सीटों के आरक्षण की संवैधानिक कलाकृतियों पर आधारित था," (प्रह्लादन (46))

संविधान में परिकल्पित 'आरक्षण' की अवधारणा ने भारत में कई राजनेताओं, न्यायविदों, न्यायाधीशों, सामाजिक और आम जनता के दिमाग को गिरफ्तार कर लिया है। भारत के संविधान ने समाज के कमजोर दलित वर्गों को सामाजिक-आर्थिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए 'आरक्षण' प्रदान किया है ताकि उन्हें राष्ट्र के जीवन में लाया जा सके। कई शताब्दियों तक, भारत में जाति व्यवस्था ने वंचित और दलित वर्गों को समाज से दूर कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप उन्हें दुकानों, सार्वजनिक स्थानों, मंदिरों और अन्य स्थानों पर शिक्षा से वंचित कर दिया गया। इसके लिए संविधान निर्माताओं ने जानबूझकर 'भारत के समानता संविधान' का तत्व डाला ताकि उनकी जाति, धर्म, नस्ल, भाषा और जन्म स्थान के साथ समान व्यवहार सुनिश्चित किया जा सके। भारत के संविधान में यह भी सोचा गया था कि 'व्यक्तिगत उपलब्धि पर समानता' का अर्थ हमारी जाति-प्रस्त लोगों में बहुत पाखंडी था, जहां समूह की पहचान का ऐतिहासिक रूप से भेदभाव और अलगाव के लिए उपयोग किया गया था। परिणामस्वरूप, उन्होंने अन्य बातों के साथ-साथ विरासत में मिली असमानताओं और ऐतिहासिक अन्यायपूर्ण असमानताओं के प्रभावों को दूर करने के लिए कुछ कमजोर वर्गों के पक्ष में 'अधिमन्य व्यवहार' अपनाया। हमारे संविधान की योजना में, राज्य जाति, लिंग, भाषा और जन्म स्थान के आधार पर नागरिकों के साथ भेदभाव करने से बचना है। भारत का संविधान यह भी प्रदान करता है कि सभी नागरिकों के बीच सामाजिक-आर्थिक समानता प्राप्त करने के लिए, राज्य को राज्य के नीति के विभिन्न निर्देशक सिद्धांतों को लागू करना आवश्यक है। संविधान समाज में समानता के लिए छुआछूत जैसी सामाजिक बुराई को समाप्त किया जाए। भारतीय संविधान के निर्माता डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में दिए गए अपने भाषण में तत्कालीन मौजूदा अन्याय और असमानताओं पर प्रकाश डाला है: हमें सबसे पहले यह स्वीकार करना चाहिए कि भारतीय समाज में दो चीजों का पूर्ण अभाव है। इनमें से एक है "समानता" सामाजिक स्तर पर, हमारे पास एक समाज है जो श्रेणीबद्ध असमानता के विशेषाधिकार पर आधारित है, जिसका अर्थ है कुछ के लिए उत्थान और दूसरों का अवनति। आर्थिक धरातल पर, हमारे पास एक ऐसा समाज है जिसके पास अपार धन है, जबकि कई लोग सामाजिक और आर्थिक जीवन में घोर गरीबी में जी रहे हैं, हमारे पास यह विरोधाभास है, जो असमानता से पीड़ित हैं, वह उस लोकतंत्र को उड़ा देगा जो इस सभा में इतनी मेहनत है। यह भारत के संविधान में प्रदान किए गए शैक्षणिक संस्थानों और सार्वजनिक रोजगारों में सीटों के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। राज्य को आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने के लिए तैयार रखना, लोगों के शैक्षिक और कमजोर वर्गों और विशेष रूप से अनुसूचित जनजातियों को विशेष देखभाल के साथ बढ़ावा देना और उन्हें शोषण के रूप में संरक्षित किया जाना चाहिए। संविधान ने तीन श्रेणियों के लोगों को आरक्षण संस्थानों और सार्वजनिक रोजगार में प्रदान किया है (i) व्यक्ति जो सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े नागरिक हैं, (ii) अनुसूचित जाति और (iii) अनुसूचित जनजाति।

²¹ भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 के साथ संविधान सभा, संविधान सभा (विधायी) डोमिनियन संसद बन गई और इसलिए विधानसभा ने एक घटक निकाय और राष्ट्रीय विधायिका के रूप में स्थिति ग्रहण की, हालांकि अलग-अलग समय पर। केंद्रीय विधानसभा, जिसे 1945 में प्रांतीय विधानसभाओं के रूप में एक ही समय में चुना गया था, ने 15 अगस्त तक कार्य करना बंद कर दिया। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 ने यह भी रेखांकित किया कि 1935 का अधिनियम, नए संविधान के पूरा होने तक भारत में सरकार का आधार बना रहेगा। 1935 के अधिनियम ने अन्य बातों के अलावा, भारत में एक संसदीय प्रणाली का प्रावधान किया। (देखें, ग्रानविले ऑस्टिन, *द इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन कॉर्नस्टोन ऑफ ए नेशन*, 2022, OUP, पृष्ठ 10

²² बंदोपाध्याय, एस. (1997), *कास्ट, प्रोटेस्ट, एंड आइडेंटिटी इन कोलोनियल इंडिया: द नामशूद्र ऑफ बंगाल*, सेरे, कर्जन प्रेस, पृष्ठ 136-172



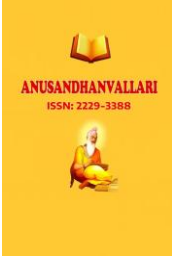
भारत सरकार अधिनियम 1935 भारत के विकास में एक मील का पत्थर था। अपने सभी "अगर" और "लेकिन", इसकी झिझक और जटिलता के लिए, इसने संवैधानिक विकास में नो-रिटर्न का एक बिंदु चिह्नित किया जो मॉटफोर्ड सुधारों ने नहीं किया। उन्होंने लक्ष्य को धुंधला छोड़ दिया है और अपनी समय-समय पर पूछताछ के साथ, अगला कदम अनिश्चित है। "डोमिनियन राज्य अब स्वीकृत लक्ष्य था, संघवाद स्वीकृत ढांचा था, और संसदीय संस्थान सरकार का स्वीकृत रूप था। संविधान को भीतर से बदलने का प्रावधान किया गया था। कई मायनों में यह अधिनियम स्वतंत्रता का खाका था, एक ऐसा तथ्य जिसके लिए इसके सामान्य आकार को बनाए रखना और 1950 के संविधान में पाठ के पूरे वर्गों को उठाना गवाही देता है।²³

भारत में दलितों और पिछड़ों की पहचान: ब्रिटिश और स्वतंत्र भारत की जनगणना

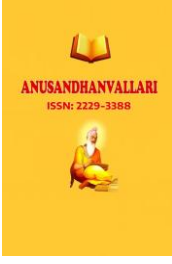
जनसांख्यिकी का अनुशासन जनगणना को समाज और शक्ति के साथ इंटरफेस के रूप में देखने का आदी नहीं है। जनसांख्यिकीविदों के लिए, जनगणना एक वैज्ञानिक अभ्यास है और उनकी भूमिका जनगणना के आंकड़ों की प्रकृति और इसकी व्याख्या की जांच करने तक ही सीमित है। हालांकि, इतिहास, राजनीति विज्ञान और नृविज्ञान के विद्वानों ने जनगणना को उस तरीके से बहुत अलग तरीके से देखने की कोशिश की है जिसमें जनसांख्यिकीविद आमतौर पर करते थे। हाल के वर्षों में, यह इस प्रस्ताव के साथ बहुत रुचि का विषय रहा है कि जनगणना ने न केवल लोगों और समुदायों की गणना की है, बल्कि गिनती की प्रक्रिया में, यह समुदायों को बनाने या मौजूदा समुदायों के लक्षणों को मौलिक रूप से बदलने में शामिल रहा है (कोहेन, 1987)। जनगणना वर्गीकरण की एक गैर-अतिव्यापी योजना विकसित करती है, और प्रत्येक व्यक्ति का पूर्वनिर्धारित श्रेणियों में एक निश्चित स्थान होता है। यदि कोई व्यक्ति उनमें से किसी में नहीं आता है, तो आमतौर पर 'अन्य' की एक श्रेणी जोड़ी जाती है। हालांकि, जनगणना शून्य में काम नहीं करती है, लेकिन जनगणना में एक प्रश्न को शामिल करने से लेकर श्रेणियों को परिभाषित करने तक जनगणना अभ्यास में शामिल लोगों की धारणा को दर्शाती है। राजनीतिक प्रक्रिया नई श्रेणियों की शुरूआत और जनगणना में उनकी गिनती को भी प्रभावित करती है क्योंकि नए राजनीतिक समूह सत्ता में अपनी हिस्सेदारी को सही ठहराने के लिए गणना की मांग करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य से देखा जाए, तो जनगणना श्रेणियां तटस्थ नहीं हैं, बल्कि राजनीतिक रूप से निर्मित हैं और अंत में अपनाई जाती हैं। हालांकि यह सच है कि जनगणना राजनीतिक प्रक्रियाओं को प्रतिबिंबित करती है, साथ ही जातीय और सामाजिक समूहों के निर्माण पर भी इसका कुछ स्वतंत्र प्रभाव पड़ता है। विशेषज्ञों की सलाह पर जनगणना द्वारा अपनाई गई जातीय, नस्लीय, सामाजिक और भाषाई समूहों की विशिष्ट परिभाषा, और दूसरों की अनदेखी करते हुए एक समूह की मान्यता का जातीय पहचान के निर्माण पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। जनगणना बहुमत और अल्पसंख्यक समूहों को बनाने वाली प्रशासनिक सीमाओं को भी बदल सकती है (ऐरेल, 2002: 823-24; भगत, 2001: 4354)। अमेरिका, कनाडा, सोवियत संघ के बाद के राज्यों, ग्रेट ब्रिटेन, ब्राजील और भारत जैसे देशों में, जनगणना नस्ल, जातीयता और राष्ट्रीयताओं के वर्गीकरण और गणना में लगी हुई है, जिन पर हाल के वर्षों में गरमागरम बहस और विरोध हुआ है (नोबल्स, 2000; प्रीविट, 2001; ऐरेल, 2002; केर्टज़र और ऐरेल, 2002; भगत, 2003)।

जबकि जनगणना में जाति गणना की ब्रिटिश विरासत को बंद कर दिया गया था, उपनिवेशवाद के लुप्त होने के बाद भी धार्मिक वर्गीकरण और उनकी गणना भारतीय जनगणनाओं का प्रमुख विषय बनी रही। पाकिस्तान और बांग्लादेश के पड़ोसी देशों में भी, जनगणना ने धर्म के अनुसार जनसंख्या को वर्गीकृत करना जारी रखा। बांग्लादेश की जनगणना में, धार्मिक श्रेणियों में इस्लाम, हिंदू, बौद्ध, ईसाई और अन्य शामिल हैं, और हिंदू आबादी के बीच किसी भी जाति श्रेणियों की पहचान नहीं की गई थी (बांग्लादेश जनगणना ब्यूरो, 1993)। पाकिस्तानी जनगणना में, मुस्लिम, ईसाई, हिंदू (जाति), अनुसूचित जाति, कादियानी और अन्य जैसी धार्मिक श्रेणियां प्रदान की जाती हैं। हिंदुओं (गैर-एससी) और अनुसूचित जातियों की अलग-अलग गणना की जाती है, और कादियानी (एक मुस्लिम संप्रदाय) नामक एक धार्मिक संप्रदाय की भी गणना की जाती है (पाकिस्तान जनगणना संगठन, 1998)। इस प्रकार यह पता लगाना चौंकाने वाला है कि दक्षिण एशियाई देशों में जनसंख्या का धार्मिक वर्गीकरण दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में जनगणना प्रथाओं के विपरीत है, जहां औपनिवेशिक काल के बाद की अवधि में धार्मिक पहचान धीरे-धीरे प्राथमिक जनगणना वर्गीकरण के रूप में गायब हो गई। दूसरी ओर, मलेशियाई, चीनी, जावानी, भारतीय और 'अन्य' जैसी नस्लीय और जातीय श्रेणियों ने जनगणना वर्गीकरण में अधिक प्रमुख स्थान हासिल किया (एंडरसन, 1991: 164-165)। स्वतंत्र भारत की जनगणना में, धर्म को इस आधार पर शामिल करना उचित है कि अनुसूचित जातियों का आधिकारिक वर्गीकरण किसी व्यक्ति की धार्मिक स्थिति से महत्वपूर्ण रूप से जुड़ा हुआ है। वर्तमान में राष्ट्रपति के आदेश के अनुसार केवल हिंदू, सिख और बौद्ध को ही अनुसूचित जाति के रूप में गिना जा सकता है। यह उल्लेख करना उचित है कि धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों के प्रति सरकार की संवैधानिक प्रतिबद्धता के बावजूद, धर्म को न केवल गिना जाता है, बल्कि विरोधाभासी रूप से धार्मिक आबादी के आकार और वृद्धि पर केवल चयनात्मक जनसांख्यिकीय डेटा 2001 की जनगणना तक प्रकाशित किए गए थे। इसने जनसंख्या वृद्धि में धर्म की भूमिका के बारे में पर्याप्त गलत धारणा पैदा की और परिणामस्वरूप देश में आरोपित सांप्रदायिक स्थिति में फंस गया (भगत, 2001)। इसके अलावा, अनुसूचित जातियों के मामले में धर्म को मानने की स्वतंत्रता भी प्रतिबंधित है। यह तब स्पष्ट

²³ भाला, पर्सिवल, ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया (खंड 2), पेंगुइन बुक्स, 1965, पृष्ठ 206



होता है जब जनगणना के दौरान केवल हिंदू धर्म, सिख और बौद्ध धर्म से संबंधित अनुसूचित जातियों को मान्यता दी जाती है। धार्मिक पहचान के आधार पर अनुसूचित जातियों की मान्यता इस विश्वास पर आधारित है कि जातिगत अधीनता कुछ धर्मों के अभ्यास में निहित है, जबकि अन्य में नहीं। इसके कारण अतीत में ईसाई धर्म, इस्लाम और अन्य धर्मों को अपनाने वाले निम्न जाति के धर्मांतरित लोगों को अनुसूचित जाति का दर्जा देने से इनकार कर दिया गया है। यह संभव है कि, यदि अनुसूचित जातियों को सभी धार्मिक समूहों में मान्यता दी जाती है, तो इससे देश में धार्मिक पहचान कमजोर होने की संभावना है। ऐसा लगता है कि भारतीय राज्य स्वाभाविक रूप से जनगणना के माध्यम से धार्मिक निर्माण के लिए तैयार है और जहां भी यह जाति की पहचान के पुनरुत्थान से बाधित हो रहा है, राज्य अपने नागरिकों को धार्मिक आधार पर विफल करने और ढालने का विकल्प चुन सकता है। यह 2001 की जनगणना की पूर्व संध्या पर स्पष्ट था। 2001 की जनगणना शुरू होने से पहले जनगणना में सभी जातियों की गणना को शामिल करने की दलील दी गई थी। मंडल आयोग की सिफारिश पर 1990 के दशक की शुरुआत में अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) को भी दी गई नौकरियों को आरक्षित करने के लिए यह आवश्यक समझा गया था, जिसने 20 वर्षों के बाद ओबीसी की प्रगति की निगरानी करने का सुझाव दिया था (रमैया 1992)। परिणामस्वरूप, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के समान अन्य पिछड़ा वर्ग के बारे में जनगणना की जानकारी भी आवश्यक थी। लेकिन इस तर्क को केंद्र सरकार ने पसंद नहीं किया और सभी जातियों की गणना के प्रस्ताव को गृह मंत्रालय ने ठुकरा दिया, जो जनगणना संगठन को नियंत्रित करता है (कृष्णकुमार, 2000)। हालांकि यह सच है कि सभी जातियों की गणना उन्हें वर्गीकृत करने में जटिलताओं के कारण मुश्किल होगी और इस तथ्य के कारण कि समय के साथ जातियां स्वयं कई पारंपरिक विशेषताओं में बदल गई हैं, हालांकि, हाल के आंकड़ों के अभाव में, जातियों पर 1931 की जनगणना की जानकारी देश में ओबीसी के आकार और अनुपात पर एकमात्र स्रोत बनी हुई है। इसके अलावा, राज्य ने राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग अधिनियम 1993 के तहत राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग की स्थापना की है, जिसे पिछड़े वर्ग की सूची में उन जातियों को हटाने या पिछड़े वर्गों की सूची में नई जातियों को शामिल करने के लिए समय-समय पर पिछड़ा वर्ग सूची को संशोधित करने का काम सौंपा गया है। इस प्रयोजन के लिए, आयोग को ऐसी जातियों की जनसंख्या के आकार, जिले और राज्य की आबादी में उनके अनुपात की आवश्यकता होती है। यह देश में जाति जनगणना के लिए एक अत्यधिक आवश्यकता पैदा करता है। लेकिन, जाति को शामिल किया जाएगा या नहीं, यह शिक्षाविदों और प्रशासकों के बीच एक विवादास्पद मुद्दा है। हालांकि, जनगणना में जाति के भाग्य का फैसला वे लोग करेंगे जो भविष्य में सत्ता में हैं (विजयनुन्नी, 1999)। इस प्रकार, हम पाते हैं कि स्वतंत्र भारत में धर्म अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की आधिकारिक श्रेणियों के साथ संयुक्त जातीय वर्गीकरण की आठ व्यापक श्रेणियां देता है, अर्थात्: हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, सिख, जैन, बौद्ध, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति। जनगणना के अनुसार, एक व्यक्ति जो आठ श्रेणियों में से किसी में भी नहीं आता है, उसे 'अन्य' नामक श्रेणी में गिनने का अवसर मिलता है। ऐसा लगता है कि आधुनिक भारत ने भारी विभेदों और मतभेदों को प्रकट करने की ब्रिटिश प्रथा के विपरीत व्यापक, अधिक सजातीय समुदायों को बनाने की परियोजना शुरू की है। 3.2 गणना दुविधाएं जनगणना में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की गणना प्रणालियों को प्रदान की गई सूची के अनुसार सख्ती से की जाती है। यह सूची एक राज्य/केंद्र शासित प्रदेश से दूसरे राज्य में भिन्न होती है। यदि कोई व्यक्ति अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति होने का दावा करता है, लेकिन उसकी जाति या जनजाति का नाम सूची में शामिल नहीं है, तो उसे जनगणना निर्देशों (भारत की जनगणना, 1971) के अनुसार अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के रूप में दर्ज नहीं किया जाएगा। सूची को पवित्र माना जाता है और इस बात की कोई भूमिका नहीं है कि समुदाय खुद को कैसे देखते हैं। हालांकि, 1971 की जनगणना से पहले, प्रणालियों को समानार्थक शब्द, स्थानीय और सामान्य नामों का एक सेट भी प्रदान किया गया था ताकि किसी भी समानार्थी या सामान्य नाम से अपनी जाति या जनजाति की रिपोर्ट करने वाले व्यक्ति को अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के रूप में माना जाए, भले ही इस तरह के पर्यायवाची या सामान्य नाम को अधिसूचित सूची में जगह मिली हो। सुप्रीम कोर्ट के फैसले के बाद अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की गणना की इस प्रथा को बंद कर दिया गया था। नतीजतन, प्रणालियों को जनगणना द्वारा प्रदान की गई सूची का सख्ती से पालन करने का निर्देश दिया गया था। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि जातियों के नाम क्षेत्र में बोली जाने वाली बोली और भाषा के आधार पर व्यापक रूप से भिन्न होते हैं। यहां तक कि एक समरूप भाषाई क्षेत्र में भी, किसी जाति के नाम के उच्चारण और लेखन के तरीके में भिन्नता की संभावना होती है। अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का आधिकारिक निर्माण इस महत्वपूर्ण तथ्य की अनदेखी करता है। दूसरी ओर, यह वारंट करता है कि एससी और एसटी समुदायों को अपनी जातियों या आदिवासी संप्रदायों के आधिकारिक नामों को जानना चाहिए और तदनुसार उनकी रिपोर्ट करनी चाहिए। इस प्रकार, जाति के नामों का आधिकारिक मानकीकरण एक नया प्रतीक प्रदान करता है जिसके तहत विभिन्न स्थानीय रूपों और अलग-अलग सांस्कृतिक प्रथाओं के साथ जाने जाने वाली जाति के अलग-अलग समूहों को एकजुट किया जा सकता है ताकि वे राज्य द्वारा दिए गए एक आधिकारिक जाति नाम के तहत आ सकें। अनुसूचित जाति ज्यादातर जाति पदानुक्रम के सबसे निचले स्तर से संबंधित हैं, जिन्हें शूद्र के रूप में जाना जाता है, जिनके साथ ऐतिहासिक रूप से अंतर-भोजन की अनुमति नहीं थी और जिन्हें अतीत में हिंदू मंदिरों में पूजा करने की अनुमति नहीं थी। इसके अलावा, उच्च जातियों के सदस्य आमतौर पर अपने मनोबल को बढ़ाने के लिए दिन-प्रतिदिन की गतिविधियों में उनसे दूरी बनाए रखते थे, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने उन्हें हरिजन (भगवान के लोग) कहा। यह उल्लेख करना उचित है कि

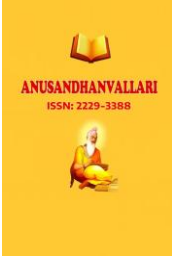


प्रणकों को एक स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि उन्हें 'हरिजन' या 'अछूत' शब्द नहीं लिखना चाहिए, भले ही कोई व्यक्ति जनगणना (भारत की जनगणना, 1991) के समय इसकी रिपोर्ट करता हो।

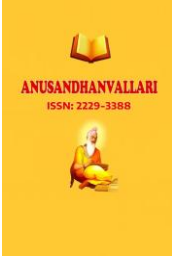
इसमें कोई संदेह नहीं है कि अधिकांश अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति अभी भी गरीब हैं और वे ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन कृषि मजदूरों के रूप में काम करते हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार, भूमिहीन कृषि मजदूरों का प्रतिशत गैर-अनुसूचित जाति की आबादी (भारत की जनगणना, 2001) की तुलना में लगभग दोगुना था। गरीब होने के कारण उन्हें अक्सर रोजगार की तलाश में शहरी क्षेत्रों में पलायन करना पड़ता है। हालांकि, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के प्रवास से न केवल गणना करना मुश्किल हो जाता है, बल्कि यदि वे अपने मूल राज्य के अलावा भारत के राज्यों में प्रवास करते हैं तो उनकी अनुसूचित स्थिति भी जब्त हो जाती है। यह इस तथ्य के कारण है कि अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की सूची केवल उस राज्य में लागू होती है जहां ये समुदाय पारंपरिक रूप से रहते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि 2001 की जनगणना में भारत के एक पूर्व राष्ट्रपति को भी अनुसूचित जाति के रूप में नहीं गिना गया था क्योंकि वह केरल राज्य से दिल्ली के राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में चले गए थे (पिटो, 2001)। ऐसा इसलिए है क्योंकि राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली से संबंधित अनुसूचित जातियों की सूची में उस जाति का नाम नहीं था जिससे पूर्व राष्ट्रपति संबंधित थे। इसने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की गणना के तरीके के बारे में एक महत्वपूर्ण मुद्दा उठाया, और एक तरफ राज्य द्वारा उन्हें उत्थान करने के लिए विशेषाधिकार प्रदान करने और दूसरी तरफ जनगणना के साधन के माध्यम से उनके विशेष दर्जे को भंग करने के विरोधाभास की ओर इशारा किया। जनगणना के बारे में निष्कर्ष: यह मान लेना गलत हो सकता है कि जाति भारतीय समाज की एक स्थिर श्रेणी रही है। यह राज्य सत्ता द्वारा फैलाई गई आंतरिक और बाहरी ताकतों के कारण बदल गया है। जनगणना एक ऐसी प्रक्रिया है जिसने वर्गीकरण के माध्यम से जातियों के बीच साफ-सुथरी सीमाएं प्रदान करने का प्रयास किया। ब्रिटिश काल के दौरान जनगणना ने आधिकारिक तौर पर जाति ग्रिड का सीमांकन किया, निश्चित लेबल प्रदान किए, और उन्हें समय और स्थान के साथ समूहित किया। इस प्रक्रिया में, जाति श्रेणियों को आधिकारिक तौर पर मानकीकृत किया गया था, जो गणना की अनिवार्यताओं के कारण आवश्यक था, जिसने भौगोलिक कवरेज और जनसांख्यिकीय ताकत के बारे में जानकारी प्रदान करके उनकी पहचान को नवीनीकृत किया, और उन्हें जाति श्रेणियों और चेतना के नए रूपों के आधार पर लामबंदी की लोकतांत्रिक राजनीति के लिए प्रोत्साहित किया। स्वतंत्र भारत में जाति गणना के साथ जनगणना सहज नहीं है। इसने ब्रिटिश प्रथा को बंद कर दिया है, लेकिन ऐतिहासिक रूप से वंचित और भेदभावपूर्ण जातियों की गणना को बरकरार रखा है। 1990 के दशक की शुरुआत में भारत सरकार द्वारा ओबीसी को नौकरी में आरक्षण देने के बाद और इसके परिणामस्वरूप ओबीसी की पहचान करने के लिए सामाजिक जनसांख्यिकीय जानकारी की आवश्यकता के बाद पूर्ण जाति गणना की मांग को राज्य द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है। भारत में, राज्य सत्ता तक पहुंच के दृष्टिकोण से, जाति और धर्म राजनीतिक में दो प्रतिस्पर्धी पहचान रहे हैं।

वैचारिक प्रतियोगिता 20वीं और 21वीं सदी का विमर्श

भारत 1.2 बिलियन से अधिक लोगों के साथ दुनिया का दूसरा सबसे अधिक आबादी वाला देश है, और दुनिया का "सबसे बड़ा लोकतंत्र" है। यह विभिन्न जातीय, धार्मिक, भाषाई, जाति और सांस्कृतिक समूहों की एक चौंकाने वाली संख्या का घर है, जिनकी सामुदायिक सीमाओं को क्रॉस-कटिंग दरार और व्यापक पहचान दोनों के कारण परिभाषित करना मुश्किल है। हिंदी देश की सरकार की आधिकारिक भाषा है, अंग्रेजी को "सहायक आधिकारिक भाषा" का दर्जा प्राप्त है, और एक दर्जन से अधिक अन्य भाषाओं को आधिकारिक तौर पर मान्यता दी गई है; भारतीय बोलियों की संख्या सैकड़ों में है। एक प्रतिस्पर्धी राजनीतिक दल प्रणाली के साथ एक संसदीय लोकतंत्र, भारत 28 राज्यों और सात केंद्र शासित प्रदेशों के साथ एक संघीय राजनीति भी है। इस प्रकार, राजनीतिक प्रतिस्पर्धा न केवल राष्ट्रीय स्तर पर होती है, बल्कि शायद इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है, प्रांतीय स्तर पर, जहां प्रत्येक राज्य (जिनमें से कई भाषाई आधार पर बनाए गए थे) में एक अद्वितीय राजनीतिक पार्टी प्रणाली होती है। स्थानीय राजनीतिक प्रतिस्पर्धा - जो अक्सर संकीर्ण विशिष्टताओं, पहचानों और रुचियों पर आधारित होती है - भारतीय लोकतंत्र की विविध प्रकृति में और जटिलता जोड़ती है। भारत, सभी देशों की तरह, एक स्थिर राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक इकाई नहीं है। पिछले दो दशकों में दो प्रमुख रुझानों ने भारत को प्रभावित किया है- केंद्र में एक-पार्टी प्रभुत्व का स्पष्ट अंत और 1990 के दशक की शुरुआत से, नवउदारवादी आर्थिक सुधार। कांग्रेस पार्टी (जिसने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व किया) 1990 के दशक तक भारतीय राजनीति पर हावी रही, विशेष रूप से राष्ट्रीय स्तर पर, अक्सर बढ़ते क्षेत्रीयकरण और विकेंद्रीकरण की दिशा में अंतर्निहित राजनीतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का विरोध करती थी। 1990 के दशक की शुरुआत तक, यह बदल गया था, क्योंकि केंद्र में सत्तारूढ़ गठबंधन की संरचना का निर्धारण करने में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की भूमिका का विस्तार हुआ, जिसका नेतृत्व आमतौर पर कांग्रेस पार्टी या भारतीय जनता पार्टी (इंडियन पीपुल्स पार्टी, भाजपा) द्वारा किया जाता था। राज्य स्तर की राजनीति भी तेजी से प्रतिस्पर्धी हो गई। दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति - नवउदारवादी आर्थिक सुधारों - ने अधिक विदेशी निवेश और उच्च समग्र आर्थिक विकास दर में योगदान दिया है। लेकिन इसने नवउदारवादी सुधारों से लाभान्वित होने वाले भारतीय समाज के वर्गों और पीछे छूट गए या प्रतिकूल रूप से प्रभावित लोगों के बीच अधिक स्पष्ट असमानताओं को भी बढ़ावा दिया है।



आंध्र प्रदेश में जातियां बहु-जातीय और तेजी से लोकतांत्रिक समाज में सत्ता में बनी हुई हैं, समाज के तुलनात्मक रूप से हाशिए पर रहने वाले वर्गों को कल्याण और संरक्षण लाभों (साथ ही धन, शराब और अन्य भौतिक वस्तुओं) के बढ़ते और स्पष्ट वितरण के माध्यम से - वोटों के लिए। चुनाव पूर्व स्थिति, मुद्दों और घोषणापत्रों के निर्माण, प्रचार, चुनावों के प्रबंधन, मतदान और चुनाव के बाद के औचित्य के अपने "समृद्ध, मोटे विवरण" के माध्यम से, इलियट एक महत्वपूर्ण वैचारिक निष्कर्ष पर पहुंचती हैं: "नागरिक समाज" के विपरीत "राजनीतिक समाज" भारत में राज्य और समाज के बीच संबंधों का बेहतर वर्णन करता है। इस प्रकार, भारत में राज्य और समाज के बीच अकादमिक द्वंद्व (और वैचारिक दूरी) वर्णनात्मक रूप से सटीक नहीं है। इसके बजाय, जैसा कि इस लेख में जांच की गई है, वे पूरी तरह से आधुनिक "राजनीतिक समाज" में बारीकी से जुड़े हुए हैं और आपस में जुड़े हुए हैं। समझाने के लिए, चुनावों में राजनेताओं को जाति और गुटिय संबंधों के ऐतिहासिक तरीकों के आधार पर स्थानीय समर्थन नेटवर्क को मजबूत करने के लिए सेल फोन और टेक्स्ट संदेशों जैसे तकनीकी नवाचारों का उपयोग करते हुए दिखाया गया है। लेकिन उम्मीदवारों के समर्थक, जो अक्सर समाज के "हाशिए पर" वर्ग होते हैं, भोले या आत्मसंतुष्ट नहीं होते हैं। इसके बजाय, वे उम्मीदवारों से भौतिक सामान की मांग करते हैं, लेकिन उन्हें प्राप्त करने के बाद, अक्सर वास्तव में अपनी पसंद को वोट देते हैं। इस प्रकार, शासक अभिजात वर्ग, उनके राजनीतिक मध्यस्थों और मतदाताओं के बीच "दूरी" कम हो जाती है क्योंकि ये अभिनेता एक गहरे "राजनीतिक समाज" में हस्तक्षेप करते हैं। फिर भी, जैसा कि इलियट चतुराई से बताते हैं, उच्च जाति के अभिजात वर्ग आंध्र प्रदेश में चुनावी राजनीति पर हावी होने के तरीके खोजना जारी रखते हैं, भले ही नवउदारवादी भारत में तेजी से लोकतांत्रिक माहौल क्यों न हो। फ्रांसेस्का रेफसम जेन्सेनियस इस बात की जांच करती हैं कि आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों की उपस्थिति अनुसूचित जाति और गैर-अनुसूचित जाति दोनों के मतदाताओं के लिए राजनीतिक प्रभावकारिता और राजनीतिक संपर्क (यानी, मतदाताओं के लिए राजनेता/उम्मीदवार दृष्टिकोण) की धारणाओं को कैसे प्रभावित करती है। 1950 के बाद से, सरकार ने भारत में पहले से हाशिए पर रहने वाले समूहों को सशक्त बनाने के साधन के रूप में आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों को चित्रित किया है। एनईएस 2004 और लॉजिस्टिक रिप्रेशन विश्लेषण के डेटा का उपयोग करते हुए, जेन्सेनियस ने पाया कि जैसा कि अपेक्षित था, लिंग और शिक्षा का स्तर उच्च राजनीतिक प्रभावकारिता और राजनीतिक संपर्क दोनों धारणाओं को समझाने में मदद करता है। फिर भी, एक आकर्षक खोज में, उनके विश्लेषण से पता चलता है कि आरक्षित या सामान्य संसदीय निर्वाचन क्षेत्रों में अनुसूचित जाति और गैर-अनुसूचित जाति के मतदाताओं के बीच राजनीतिक प्रभावकारिता की धारणाओं में कोई स्पष्ट अंतर नहीं है। जेन्सेनियस को कुछ सबूत मिलते हैं कि अनुसूचित जाति के मतदाताओं को लगता है कि सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों की तुलना में आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों में उम्मीदवारों द्वारा उनसे अधिक बार संपर्क किया जाता है, लेकिन इस खोज की मजबूती (सांख्यिकीय महत्व) संदिग्ध है। उनके निष्कर्ष अनुसूचित जाति के मतदाताओं के साथ राजनेताओं के बढ़ते संपर्क के संदर्भ में आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों का उपयोग करने के संभावित लाभ की ओर इशारा करते हैं, लेकिन वे यह भी सवाल करते हैं कि क्या आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों ने राजनीतिक प्रभावकारिता के उन मतदाताओं की भावनाओं को बढ़ाया है। इस लेख से भारतीय समाज के पहले से हाशिए पर रहने वाले वर्गों को राजनीतिक रूप से सशक्त बनाने में आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों के सटीक कार्यों के बारे में और अधिक अनुभवजन्य शोध को बढ़ावा देना चाहिए, और क्या ये लक्ष्य भारत के जीवंत लोकतंत्र में पूरे हुए हैं। दिव्या वैद भारत में जाति और वर्ग के बीच संबंधों का विश्लेषण करती हैं। विशेष रूप से, वह जाति-वर्ग संबंधों की गतिशीलता का पता लगाने की कोशिश करती है, क्या जाति और सामाजिक-आर्थिक वर्ग के बीच अनुरूपता समय के साथ कम हो गई है, जैसा कि "आधुनिकीकरण" द्वारा प्रस्तुत किया गया है। वह विभिन्न जाति श्रेणियों की अंतर-पीढ़ीगत सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता की डिग्री की भी जांच करती है। वैद का डेटा बहु-आयामी और राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिनिधि एनईएस 2004 से आता है, जिसमें उत्तरदाताओं की जनसांख्यिकी के साथ-साथ उनकी राजनीतिक धारणाओं और गतिविधियों पर सर्वेक्षण डेटा शामिल है। समायोजित मानकीकृत अवशिष्ट, लॉग-लीनियर मॉडल और जन्म-समूह दृष्टिकोण जैसी परिष्कृत अनुसंधान पद्धति का उपयोग करते हुए, वैद कई महत्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुंचती हैं। सबसे पहले, वह पाती है कि उच्च जातियां निचली जातियों की तुलना में उच्च सामाजिक/व्यावसायिक वर्गों में अधिक केंद्रित होती हैं। दूसरा, जाति और वर्ग के बीच यह संबंध समय के साथ केवल मामूली रूप से कमजोर हुआ है, हालांकि इसने पुरुषों की तुलना में महिलाओं के लिए ऐसा अधिक किया है। और अनुसूचित जातियों को ऊपर की ओर वर्ग की गतिशीलता प्राप्त करने में महत्वपूर्ण कठिनाई का अनुभव होता है, जबकि उच्च जातियां निम्न वर्ग की गतिशीलता से प्रतिरक्षित नहीं हैं। इस प्रकार, जैसा कि वैद का तर्क है, जाति-वर्ग संघ समाज के चरम पर (जाति और वर्ग दोनों के संदर्भ में) सबसे प्रमुख है, और मध्यम में कम है। फिर भी, जैसा कि वह चतुराई से बताती हैं, उनके अध्ययन के परिणाम, किसी भी अध्ययन की तरह, एनईएस 2004 का उपयोग करके निर्मित व्यापक जाति श्रेणियों द्वारा निर्धारित किए गए हो सकते हैं। इसलिए, स्थानीय जातियों (उपजातियों) का एक अधिक अलग-अलग विश्लेषण, जैसा कि बड़ी एकत्रित जाति श्रेणियों के विपरीत है, इस घटना की अधिक सूक्ष्म समझ को उजागर करने में मदद कर सकता है। बहरहाल, वैद का लेख जाति और वर्ग के बीच की गतिशीलता पर बढ़ते अकादमिक साहित्य में एक महत्वपूर्ण अनुभवजन्य, वैचारिक और पद्धतिगत योगदान देता है। वह जिस विषय का विश्लेषण करती हैं, उसका महत्व चुनावी मतदान, आरक्षण की राजनीति और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के सामान्य मुद्दों तक फैला हुआ है - समकालीन भारतीय राजनीति के अध्ययन में सभी महत्वपूर्ण विषय। रीतिका स्याल शैक्षिक गतिशीलता (यानी, किसी की शिक्षा के स्तर और किसी के पिता के बीच का अंतर) और भारत में राजनीतिक



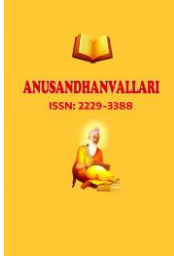
हित और राजनीतिक भागीदारी दोनों के बीच संबंधों की जांच करती है। वह इस परिकल्पना का परीक्षण करने के लिए एनईएस 2004 और प्रतिगमन विश्लेषण से सर्वेक्षण डेटा का उपयोग करती है कि शैक्षिक गतिशीलता राजनीतिक हित और राजनीतिक भागीदारी को सकारात्मक रूप से प्रभावित करती है। लिंग, स्थानीयता, घरेलू आय, मीडिया एक्सपोजर, उम्र और जाति सहित अन्य संभावित व्याख्यात्मक चर के संभावित बातचीत प्रभावों को नियंत्रित करना - स्याल को अपनी परिकल्पना के लिए समर्थन मिलता है जो शैक्षिक गतिशीलता को राजनीतिक हित और भागीदारी के बड़े हुए स्तर से जोड़ता है। इसका मतलब यह नहीं है कि इनमें से कुछ अन्य चर मायने नहीं रखते हैं (वास्तव में कुछ सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण भी पाए जाते हैं) बल्कि यह कि स्वतंत्र रूप से परीक्षण की गई शैक्षिक गतिशीलता का भी प्रश्न में घटना को समझने में मूल्य है। स्याल का शोध भारतीय राजनीति पर बढ़ते साहित्य में योगदान देता है, जो चुनावी भागीदारी के बड़े हुए स्तर, तथाकथित लोकतांत्रिक उभार की व्याख्या करने का प्रयास करता है। हालांकि सीधे तौर पर यह तर्क नहीं दिया जा रहा है कि शैक्षिक गतिशीलता इस लोकतांत्रिक उभार में एक संभावित कारक है, स्याल के शोध के निहितार्थ निश्चित रूप से संभावित सकारात्मक प्रभावों की ओर इशारा करते हैं कि शैक्षिक गतिशीलता में वृद्धि से राजनीतिक चेतना और लोकतांत्रिक भारत में भागीदारी की दर को बढ़ाने में क्या प्रभाव पड़ सकता है। अंत में, एशियाई सर्वेक्षण के इस विशेष अंक में निश्चित उत्तरों की तुलना में भविष्य के शोध के लिए अधिक प्रश्न पूछे जा सकते हैं। (आखिरकार, यह सामाजिक विज्ञान अनुसंधान की प्रकृति है। लेकिन हम आशा करते हैं कि यहां प्रस्तुत अत्यधिक अनुभवजन्य लेख, जो सभी अधिक सामान्य महत्व के विषयों के भीतर हैं, हमारे पाठकों को भारत में लोकतंत्र और राजनीतिक प्रतिनिधित्व की बदलती प्रकृति पर एक मजबूत समझ प्राप्त करने में मदद करेंगे। यदि यह अंतिम परिणाम है, तो लेखकों, संपादकों और अन्य शुभचिंतकों द्वारा इस अंक में किया गया विस्तारित प्रयास सफल रहा होगा। और भारतीय लोकतंत्र और राजनीतिक प्रतिनिधित्व पर राजनीति विज्ञान अनुसंधान में काफी वृद्धि हुई होगी।

निष्कर्ष

निष्कर्ष स्वरूप यह सुझाव सिया जा सकता है कि पहले अनुसूचित जातियों की उच्चतम सांद्रता वाले निर्वाचन क्षेत्रों को आरक्षित करना जो आमतौर पर 20 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी और फिर अन्य का चयन फैलाव मानदंड के आधार पर करना। चूंकि जनजातियों के विपरीत अनुसूचित जाति, जनसंख्या समान रूप से फैली हुई है, इसलिए उनके लिए आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों में अनुसूचित जाति के सदस्य बहुत कम हैं। 1962 के चुनावों में अनुसूचित जातियों के लिए पुन सेवा प्रदान की गई 76 लोक सभा निर्वाचन क्षेत्रों में से कोई भी ऐसा नहीं था जिसमें उनकी आबादी का बहुमत था और केवल 13 निर्वाचन क्षेत्रों में वे तीस प्रतिशत तक शामिल थे। अनुसूचित जातियों के अधिकांश घटकों में अनुसूचित जातियों की संख्या 10 से 30 प्रतिशत के बीच है, इस प्रकार, अनुसूचित जातियों का विशाल बहुमत - शायद 75 प्रतिशत - अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों के बाहर रहता है। 1961 में जिन 111 लोकसभा क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों की आबादी 20 प्रतिशत से अधिक थी, उनमें से केवल 46 आरक्षित हैं, जबकि 20 प्रतिशत से कम वाले 29 निर्वाचन क्षेत्र आरक्षित हैं। अनुसूचित जनजाति के निर्वाचन क्षेत्रों की तरह, अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित निर्वाचन क्षेत्र राजनीतिक बैकवाटर होते हैं - थोड़ा कम शहरी, कम समाचार-पत्रों के प्रसार और कृषि मजदूरों का प्रतिशत थोड़ा अधिक होता है। अनुसूचित जनजातियों की एकाग्रता और अनुसूचित जातियों के फैलाव का एक ही पैटर्न राज्य विधानमंडल में पुनः सेवा वाली सीटों में फिर से दिखाई देता है।

संदर्भ सूची

- [1] कोहली, एएड (2001): द सक्सेस ऑफ इंडियाज डेमोक्रेसी, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज
- [2] बीआर नंदा (1995): जवाहरलाल नेहरू: विद्रोही और राजनेता, नई दिल्ली, ओयूपी
- [3] बिपिन चंद्र (1971): मॉडर्न इंडिया, दिल्ली, एनसीईआरटी
- [4] फाडिया, बीएल और कुलदीप फाडिया (2020): भारत सरकार और राजनीति, साहित्य भवन
- [5] गांधी, एमके (5 जनवरी, 1922): यंग इंडिया
- [6] फाडिया, बीएल और कुलदीप फाडिया (2020): भारत सरकार और राजनीति, साहित्य भवन
- [7] ऑस्टिन, जी. (2022): द इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन, कॉर्नरस्टोन ऑफ ए नेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
- [8] चक्रवर्ती, पी. और सी. भट्टाचार्य, कांग्रेस इन इवोल्यूशन
- [9] त्रिपुरी कांग्रेस के एक प्रस्ताव से, और ग्रानविले ऑस्टिन (2020), भारत का संविधान, एक राष्ट्र की आधारशिला, ओयूपी
- [10] पर्सिवल, एस. (1956): हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पेंगुइन बुक्स
- [11] भारतीय वार्षिक रजिस्टर (आईएआर), 1946, और ऑस्टिन, जी, भारतीय संविधान



-
- [12] बंदोपाध्याय, एस. (1997), कास्ट, प्रोटेस्ट, एंड आइडेंटिटी इन कोलोनियल इंडिया: द नामशूद्र ऑफ बंगाल, सरे, कर्जन प्रेस
- [13] भाला, पर्सिवल (1965), ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया (खंड 2), पेंगुइन बुक्स,
- [14] मुख्य मुद्दों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व लेखक (ओ) (2015), टोमा ब्यूरियन स्रोत: पोलिश समाजशास्त्रीय समीक्षा, पोल्स्की टोवार्ज़िस्टू सोकजोलोजिकज़ने, पोलिश सोशियोलॉजिकल एसोसिएशन
- [15] गैरी के. क्लैबॉग (1995), "सकारात्मक भेदभाव" शैक्षिक क्षितिज , स्प्रिंग प्रकाशन, खंड 73, नंबर 3, विशेष अंक: सलाह स्प्रिंग, फी डेल्टा कप्पा इंटरनेशनल
- [16] कोल्कर, रूथ (2024), "सकारात्मक कार्यवाही," हाइपरकैपिटलिज्म के युग में अमेरिकी कानून (2024), न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी प्रेस,
- [17] एच. डॉक्टर (1994), "रिप्रेजेंटेशन रिविजिटेड," द इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, (1994), वॉल्यूम 55, नंबर 2
- [18] सुभाष शुक्ला (2014), "भारत में सामाजिक न्याय: संवैधानिक दृष्टि और उसके बाद," द इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, वॉल्यूम, 75, नंबर 2,